महाराजकृष्ण 'भरत'

फिल्म में छिपाए तिरंगा

बहुत से ऐसे लोग हैं जो कश्मीर के मुस्लिम आतंकवादियों की ए० के० ४७ राइफलों की खूनी दहशत का जवाब गोली से देने के पक्षधर होंगे। पर श्री महाराजकृष्ण 'भरत' उनमें से हैं जो केसर की क्यारी को रक्त-रंजित करने वाली आतंकवादियों की बर्बरता का सशक्त जवाब अपनी कविताओं से दे रहे हैं। वे अपना घर लुटा कर फटे तम्बुओं में रहने की त्रासदी झेलते हुए भी अपने कवि-मन की लौह-दीवारों के बीच तिरंगे की शान को बचाए हुए हैं। लेकिन उनकी मुट्ठियों में बंधा आक्रोश का आकाश और धमनियों में बह रहे संकल्प की प्राञ्जलता इस सशक्त काव्य-संग्रह की कविताओं में प्रकट हुई है, जिसकी अनेक कविताएं पाठकों को उद्वेलित कर देती हैं। इन कविताओं में उस राष्ट्रवादी कश्मीरी-मन का सच उद्घाटित हुआ है जिसने भारत को श्री-युक्त किया, लेकिन भारत उसे श्री-हीन होने से बचा नहीं पाया। कविता समय का हस्ताक्षर होती है। आज जो स्थिति है, वह कल जरूर बदलेगी और तब इन कविताओं का महत्व और बढ़ जाएगा।

—तरुण विजय
सम्पादक, पाञ्चजन्य

3/96

वा
ज
'भ
वा
का
में
दी
उ
में
क
व
व
अ
प
f
a

फिरन में छिपाए तिरंगा

(काव्य-संकलन)

फिरन में छिपाए तिरंगा

महाराजकृष्ण 'भरत'



अनिल प्रकाशन
२६१६-२०, न्यू मार्किट, नई सड़क, दिल्ली-११०००६

(हिन्दी अकादमी, दिल्ली के सहयोग से प्रकाशित)

प्रकाशक : अनिल प्रकाशन
२६१६-२०, न्यू मार्किट
नई सड़क, दिल्ली-११०००६

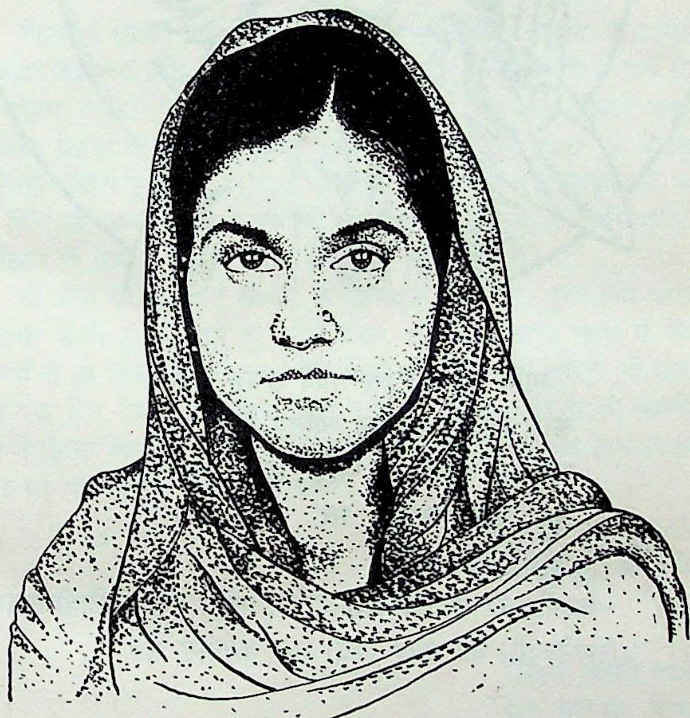
लेज़र कम्पोजिंग : कम्प्यूटेक सिस्टम
शाहदरा, दिल्ली-११००३२

मुद्रक : शुभम ऑफसेट
मानसरोवर पार्क,
दिल्ली-३२

आवरण : डा. भगवती प्रसाद निदारिया

प्रथम संस्करण : १६६५

मूल्य : ६०.००



(१८ फरवरी १९६३-२२ अप्रैल १९९०)

अपनी बहन

स्व. शकुन्तला को

समर्पित...



“आमि पन् सो’द्रस नावि छ्र्यस लमान
कति बोज़ि दय म्योन म्यतिय् दियि तार,
आम्यन टाक्यन पोञ ज़न श्रमान
ज़्रुव छुम ब्रमान गर’ गछ़ हा।”

—कश्मीर की चौदहवीं शताब्दी की महान संत कवयित्री ललद्यद (लल्लेश्वरी) का वाख (पद) मूल कश्मीरी में।

[अर्थात्—
कच्चे धागे से मैं खींच रही हूँ—
समुद्र में अपनी नाव,
काश ! देव मेरी भी सुनता
और ले चलता मुझे भी पार।

कच्चे सकोरों में रखे पानी की भांति
क्षीण होते मेरे प्राण—
घर लौटने को लालायित हैं।]

शुभाशीष

'फिरन में छिपाए तिरंगा' के रचयिता श्री महाराजकृष्ण 'भरत' ने कश्मीर के आतंकवाद को स्वयं झेला है। उनका अनंतनाग में घर आतंकवादियों ने जला दिया। पूरा परिवार सदियों पुराना, अपने पुरखों का शहर, घर-बार छोड़कर जम्मू के विस्थापित शिविर में रहने को विवश हुआ। उनके हृदय में लहरा रहा देशभक्ति का तिरंगा आहत हुआ, वे हर दुःख झेल कर भी अपनी देश भक्ति की ज्वाला प्रखर किए रहे, अन्य लाखों काश्मीरियों की भांति। और उसी की अभिव्यक्ति हुई है–'फिरन में छिपाए तिरंगा' काव्य संग्रह की कविताओं में।

श्री भरत की कविताएं कश्मीर के देशभक्तों की वेदना, घुटन और क्षोभ को तो व्यक्त करती ही हैं, साथ ही उनमें सबल, सशक्त, अखण्ड भारत के निर्माण तथा गर्व से सर ऊंचा किए फिर कश्मीर लौटने की आशा और संकल्प भी झलकता है जो एक दिन अवश्य पूरा होगा। वह घड़ी दूर नहीं जब किसी को कश्मीर से फिरन में तिरंगा छिपा कर लाने की विवशता नहीं होगी, क्योंकि वह शान से कश्मीर के हर घर पर निर्भीक फहरा रहा होगा।

अटल बिहारी वाजपेयी

(अटल बिहारी वाजपेयी)
नेता, प्रतिपक्ष, लोकसभा

कश्मीर की याद में

७ मार्च, १६६० के बाद मैं आज तक कश्मीर नहीं जा पाया। उस दिन जब मैं अपने गांव मार्त्तण्ड (अनन्तनाग) गया था, वहां कुछ ही परिवार रह गए थे, जो अगली सुबह गांव छोड़ने की ताक में हर शाम को सोचा करते थे। मैं भी अकेला अपने घर को, अपने गांव की माटी को, उस आंगन को—जहां मेरा बचपन बीता, देखने आया था। मुझे ज्ञात नहीं था कि इन्हीं दो दिन में अपने उस गांव को देख पाऊंगा, जहां पीढ़ियों से मेरे पूर्वज रहते चले आ रहे थे। दाढ़ी बढ़ाए, फ़िरन पहने, मैं सिरफिरा-सा अनवरत अपने गांव के चक्कर काटता रहा था। निरन्तर अपने घर की चौथी-मंजिल की खिड़की से झांककर मैं पूरे गांव, पर्वत-मालाओं, चिनार के पेड़ों को निहारता रहा था। गांव सुनसान पड़ा था। हवा की सायं-सायं में मेरी आंखें उन अपनों को खोज रही थीं, जो विदा ले गए थे—गांव से, भाग आए थे जम्मू अपनी राष्ट्रीयता को अपने फिरन में छिपाए। और मैं भी मार्त्तण्ड मन्दिर के विमल कुंड में उस दिन डुबकी लगाए यही कामना करके वापस लौटा, कि एक दिन जरूर अपने गांव लौट आऊंगा, साथ में लिए अपना काफिला, अपना कश्मीरियत्व !

पांच साल बाद जन्मभूमि कश्मीर से दूर रहकर आज भी वे दृश्य जब कौंध जाते हैं—मेरी आंखों में, तब भावुक हो उठता हूँ, दम घुटने लगता है। अपने गांव को देखने के लिए आंखें तरसती हैं, अपनी जन्मभूमि का स्पर्श पाने के लिए दिल तड़पता है। इन्हीं अहसासों, माटी के दर्द से निकली टीसों, तम्बुओं की बस्ती में भोगे हुए क्षणों और तम्बुओं में बिताए अपने स्थापित समाज की विस्थापित बस्तियों के शब्द-चित्रों को मैंने 'फिरन में छिपाए तिरंगा' काव्य-संग्रह में उकेरने का प्रयास किया है। ये कविताएं मेरे समाज की चार वर्षों की निर्वासन-पीड़ा से जुड़ी हैं और इसी पीड़ा में ये कविताएं पली-बढ़ीं।

अपनी बहन स्व. शकुन्तला के प्रति श्रद्धांजलि के पुष्प अर्पित करता हूँ, जो विस्थापन काल की त्रासदी के पहले वर्ष ही २२ अप्रैल, १६६० को सदैव के लिए हमसे बिछुड़ गईं। अन्तिम क्षणों में उनसे न मिलने का दुख सालता रहा और सालता रहेगा। वे ही मेरी प्रारम्भिक कविताओं की श्रोता रही हैं और यह काव्य-संग्रह उन्हीं

की याद में समर्पित है। और समर्पित है उन शहीदों को भी, जिन्होंने कश्मीर में संविधान और तिरंगे की शान-बान की रक्षा में अपने प्राण न्योछावर कर दिए। प्रयोगवाद के प्रख्यात कवि डा. प्रभाकर माचवे को भी मेरी विनम्र श्रद्धांजलि। उनके सान्निध्य में रहकर मैंने कविता को समझने का प्रयास किया।

मैं कृतज्ञ हूं प्रख्यात साहित्यिक-हृदय राष्ट्रनेता श्री अटल बिहारी वाजपेयी का, जिनका मुझे सम्बल प्राप्त हुआ। सच पूछिए, जब यशस्वी पत्रकार श्री तरुण विजय ने मुझसे कहा कि श्री वाजपेयी ने संग्रह का 'शुभाशीष' लिखा है तो लगा कि हम विस्थापित अकेले नहीं हैं। श्री तरुण विजय ने मेरी हर सम्भव सहायता की और मेरी चिन्तन-प्रक्रिया को एक नयी दिशा दी। आचार्य विष्णुकान्त शास्त्री का भी मुझे स्नेह मिला।

श्रद्धेय श्री रज्जू भैया के आशीर्वाद ने मुझे जीने के लिए प्रेरित किया और जम्मू कश्मीर में राष्ट्रवादी विचारधारा के पुरोधा आदरणीय श्री इन्द्रेश कुमार; जिन्होंने पत्रकारिता के क्षेत्र की ओर मुझे अग्रसर किया, सदैव मेरा मनोबल बढ़ाते रहे। कश्मीरी भाषी हिन्दी विद्वान प्रो. चमनलाल सप्रू, प्रसिद्ध रचनाकार डा. शशि शेखर तोषखानी और डा. क्षमा कौल, मुझे अपने बहुमूल्य सुझाव देते रहे। गज़ब की हिम्मत लिए विस्थापन की त्रासदी से जूझते हुए अपने समाज एवं राष्ट्र के प्रति कुछ कर गुजरने के लिए तत्पर श्रीमती संतोष पण्डिता 'प्रेरणा' के जुझारू व्यक्तित्व ने भी मुझे काफी प्रभावित किया। निराशा से आशा की ओर बढ़ाने का मूलमंत्र मैंने प्रगतिशील विद्वान मौलाना वहीदुद्दीन खान से सीखा। हिन्दी अकादमी, दिल्ली के आर्थिक सहयोग से संग्रह प्रकाशित हुआ और प्रकाशक श्री अनिल कुमार गुप्त ने प्रकाशित करने का साहस दिखाया। रचनाकार मित्र डा. भगवती प्रसाद निदारिया ने आवरण पृष्ठ के रेखांकन का भार सम्भाला। पत्रकार मित्र श्री विक्रम उपाध्याय और कवि श्री महाराज कृष्ण भान ने संग्रह की कविताओं की पाण्डुलिपि तैयार करने में मेरी सहायता की। इन सभी का मैं आभारी हूँ।

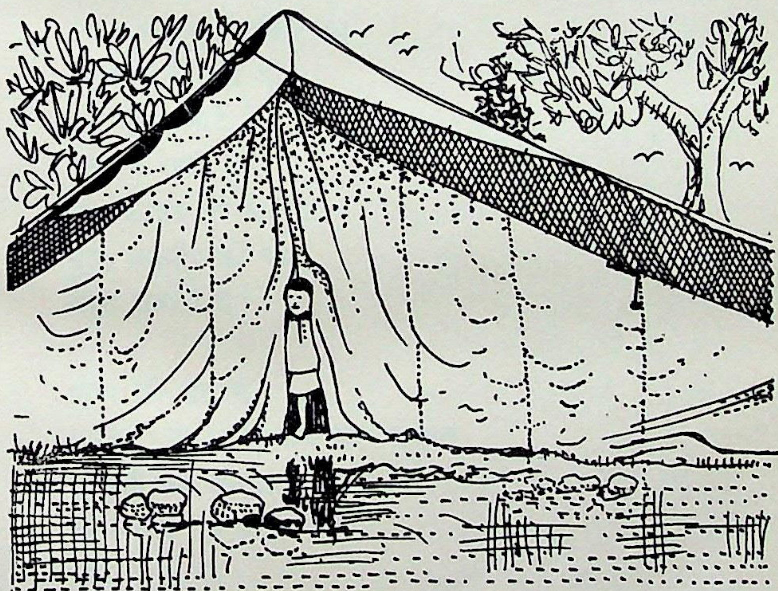
इन कविताओं के भुक्तभोगी मेरे माता-पिता, भाई-बहन, मौसी, मामा एवं अन्य संबंधियों के सहयोग के बिना यह कार्य सम्भव ही नहीं था। बचपन के मित्र श्री समीर तिक्कू और मेरे जीवन आधार मित्रों और पाञ्चजन्य के सहयोगियों का भी मैं आभारी हूं, जिनसे मुझे सदैव अपार स्नेह मिला और मिलता रहेगा। ऐसे अनेक हैं, जो मेरे मार्ग में प्रकाशदीप रहे हैं, उन सभी को आभार।

अब 'फिरन में छिपाए तिरंगा' संग्रह आपके हाथों में है। चाह यही है कि अपने समाज की व्यथा-कथा अपनी मातृभूमि भारत के लोगों तक पहुंचा सकूं। मैं इस प्रयास में कितना सफल रहा, इसका निर्णय सुधी पाठक करेंगे।

विस्थापित शिविर, नगरोटा-२८४ **महाराजकृष्ण 'भरत'**
जम्मू-१८१२२१

अनुक्रमणिका

(क) तम्बुओं के भीतर...



विस्थापित कैम्प

ठिगने कद की चार-दीवारी में क़ैद
कंकड़ीली ज़मीन के बिस्तर पर
अपने बाजूनुमा तकिए का
सहारा लेती मेरी माँ
रात के सन्नाटे में
बदलती रहती है—
जब करवट पर करवट
मुझे, कश्मीर की याद
बहुत सताती है।

पूनम की रात में
यारबल[1] के धोबी घाट का अहसास
तम्बुओं की अनवरत कतारों में
आगन्तुकों को भटकाएगा
और सांझ गए
मुझसे मिलने के लिए
किसी को खटखटाना नहीं होगा दरवाजा
क्योंकि
खिड़की से झाँकता हुआ

नहीं मिलेगा कोई
चेहरा अधेड़ !
केवल–
फटेहाल सरकारी तम्बू का
पर्दा सरकाना होगा,
जो कि देता है खुला आमंत्रण
किसी को भी
बेरोक भीतर चले आने का
और मैं
तुमसे मुखातिब हो जाऊँगा
अपने घर-परिवार के साथ।

बरसाती मौसम में–
आँगन में कई नदियों का
संगम हो जाता है–
और रिसने लगतीं हैं हर ओर
पानी की बूँदें टप-टप, टप-टप
माँ परेशान हैं–
नवजात शिशु के लिए।
बह जाता है घर का असबाब
ठूँठ
ज़मीन से रिश्ता तोड़
खतरे की घण्टी बजाते हैं !

रात का अन्धेरा
कई योजनाओं को ज्यों का त्यों छोड़
चल देता है–
चिलचिलाती तेज़ाबी धूप को बुलाने

कभी न खत्म होने वाले दिन से मिलने !
मिलने आते हैं अक्सर
कई रेंगते जीव—
छिपकलियां, बिच्छू और सांप,
मैं
उछल-कूद के खेल में
व्यस्त हो जाता हूँ !
म्याऊँ-म्याऊँ, टर्र-टर्र, ढैंचू-ढैंचू
और
रम्भाने का संगीत
वातावरण में छा जाता है।
'घर' में रहते हुए भी
मुझे
मेरा घर
बार-बार क्यों याद आता है।

२५ मार्च, १९९१, विस्थापित शिविर, नगरोटा

---

१. नदी का नाम

शरणार्थी

भूल चुके हैं–
अपना, परिचय
घर-मुहल्ले-गलियारे,
बिछ गयी हैं
पगडंडियां–
शवों की कतारों से,
नंगी
घिनौनी तस्वीर
बन गया है शहर।

अपने अस्तित्व के लिए
भाग आए हैं–लोग
बीहड़-वीरानी में
जहाँ रोज़ वे तड़पते हैं
अभावों की सूची गिनते-गिनते।

इस शहर में भीड़ देख
घुस आए हैं–
गिद्ध-चील-कौओं के
बेशुमार झुण्ड,

आज नगर में
मांस का अभाव नहीं
शिविर-दर-शिविर
लाखों जीव रहते हैं।

५ मई, १६६०, विस्थापित शिविर, नगरोटा

गुलिस्तान का यात्री

मैं
गुलिस्तान का यात्री
अब अपने को खजूर के साये–
रेत के विस्तार में
पाता हूँ।

दौड़ता हूँ–
अविराम,
प्यासा मृग-सा।

अम्बर से
मेघों का राग सुनकर
चातक
बन जाता हूँ
और पाता हूँ सामने
विशाल प्रकृति का
अनदेखा-अस्पर्शी-अरूप सा
आकार ! ! !

३ जनवरी, १९६०, जम्मू

रात

'सरकारी कबूतरखाने' में
लम्हों का विषाक्त जीव
रात में जब आता है—
मामूली सी दो गज की ज़मीन में
सट जाते हैं
कद्दावर लोग।

कोने में दुबका
किताब लिए
है बेटा,
पास में अधेड़ पिता
मेहमान को
सुना रहा है
उस रात की व्यथा !
जवान बेटी छटपटा रही है
मछली की तरह
कि हो उसका भी
एक कोना,
माँ चूल्हे में

तपा रही है आग
कि
मेहमान रात होते
कहाँ सोएगा ?

८ दिसम्बर, १९९३, नगरोटा

तुम केवल एक भूत

तुम्हें कितने पास से
मैं निहार रहा हूँ
एक अर्से से
कई ऋतुओं से
पर तुम
इतने पास हो कर भी
कितने खामोश
कितने दूर हो...

तुम केवल—एक भूत हो
तुम में
इतनी सामर्थ्य कहाँ
कि
वर्तमान में पग धरकर
अपनी नस्लकशी का
तमाशा देख सको।

पता था तुम्हें
पलायन का—

बिछड़ेंगे स्नेह पात्र
खो जाएंगे हम भीड़ में
पर तुम
शरणार्थी के सम्बोधन से
बचना चाहते थे।

ढो रहा हूँ तुम्हारे
दायित्व का बोझ
मन की उलझन
जूझ रहा हूँ
आतंकवाद के संत्रास से।
कालचक्र ने
विलय़ कर दिया है
तुम्हें
मुझमें—
मेरे बचपन !

४ जुलाई, १९९०, जम्मू

राशन कार्ड !

राशन और रिलीफ से
जुड़ गया है–
एक विस्थापित का भविष्य !
पता है–
टेंट न०....
शरणार्थी कैम्प...
... ...

हाँफता-काँपता
थरथराता
सहमा हुआ
रोज होता है खड़ा
एक लम्बी कतार में,
कि बुलाया जाएगा
उसका नाम भी–
साँझ होने तक !

माँगा जा रहा है
उसके उजड़ने का सबूत

जिसका
पांच हजार साल पुराना
इतिहास है,
पर !
आज वक्त के थपेड़ों में
सिमटती जा रही है
उसकी पहचान
एक राशन कार्ड में !

११ नवम्बर, १९९३, नगरोटा

फिरन में छिपाए तिरंगा

मैं,
आज़ाद भारत का
गुलाम शरणार्थी
विवश हूँ–
रिलीफ कमिश्नर की
गुलामी के लिए।
रिलीफ की लम्बी कतार में
खड़ा मेरा अधेड़ पिता
खोज रहा है–
चिलचिलाती तेज़ाबी धूप में
चिनार की छाँह !

मुझे, निर्वासन में धकेल कर
'आज़ाद कश्मीर'
का स्वप्न देख रहा है–
मेरे गाँव का 'पड़ोसी'
मेरी जमा पूँजी को
तिरंगा समझकर
जला दिया था उसने–
१५ अगस्त को...

आज मैं
१५ अगस्त कैसे मनाऊँ ?
भेदती है मेरे कानों को
एक ही आवाज़...
'काफिरों को जला डालो
काफिरों को मार डालो।'

मेरी माँ ने आज
फटे-पुराने टेंट को
तिरंगे के रंग में रंगकर
लिख दिया है–
'मेरा भारत महान !'
क्योंकि आज मेरी
गुलामी की छियालीसवीं
वर्षगांठ है !
माँ, ठिठक जाती है–
रेत के बिस्तर पर
तार-तार होकर,
सुना है उसने कि
१५ अगस्त को
लाल चौक में–
फिर एक हादसा हुआ है।

तीन साल पहले
मैं, रात के अन्धेरे में
भागा था
फिरन[1] में
छिपाए तिरंगे को

और
आज 'आज़ादी'
मेरे लिए
तीन अक्षरों का
एक जमावड़ा है।

१५ अगस्त, १९९३, विस्थापित शिविर, नगरोटा

१. लम्बा-चौड़ा कुर्ते का-सा पहनावा

दीवाली

मनायी होगी
उस पार
इस बार भी दीवाली
जब कट्टरपंथियों ने
जला डाला होगा—
निर्वासितों का घर
लूटी होगी उनकी जायदाद
किया होगा कब्जा—
सेबों के बगीचों
धानों के खेतों पर
उठा ले गए होंगे
अखरोट और बादाम !

मनायी गयी
इस पार
इस बार भी दीवाली
जब जला दीपों में
आँसुओं का मोम,
एक पूरे आकाश की व्यथा,

तम्बुओं के भीतर
बतियाते रहे बेबस विस्थापित लोग–
कि मन के भीतर
उठती है एक टीस–
कि मनायी होगी
उस पार
इस बार भी दीवाली
जब मिटा दिए गए होंगे
हमारे निशान
कि वहाँ रहता था कभी
बीसवीं सदी तक
कोई कश्मीरी पण्डित !

१३ नवम्बर, १९९३, दीपावली, विस्थापित शिविर, नगरोटा

चक्रव्यूह

मेरे लिए वे
रचते गए चक्रव्यूह
और मैं
मिलाता रहा
उनसे हाथ–
दोस्ती का।

मैंने माँगी उनसे
थोड़ी हवा !
थोड़ी जगह !
थोड़े अधिकार !
और
वे दे गए मुझे–
उम्रभर की घुटन !
दासता का जीवन !
निर्वासन ! निर्वासन !

१७ अगस्त, १९९०, भोपाल (मध्य प्रदेश)

कब आएगा 'मेरा काफिर' !

एक.

आज जब
किसी 'काफिर' के मारे जाने की
खुशियां
उसके घर में
मनायी जा रही होंगी
तो
उसके मन के भीतर
घुमड़ता होगा—मेरा नाम।
दुबक लिया होगा उसने
अपने बर्फ से चेहरे को—
फिरन में,
और कहा होगा अपने से—
''वह भी एक 'काफिर' था
जो दे गया मुझे
अन्तहीन प्रतीक्षा की घड़ियां।''

जब किसी 'मुजाहिद' ने

थामी होगी उसकी कलाई
किया होगा उसका चीरहरण
माँगी होंगी उसने दुआएं
कि
'कब आएगा 'मेरा काफिर'
मुझे 'आजाद' कराने !''

दो.

मेरे दिमाग में
कौंध जाती है आज भी–
उसकी आवाज़,
जब मेरे सीने से दुबक कर
वह बिलख-बिलख कर
रोयी थी।
उस रात किए थे उसने
कई प्रश्न मुझ से–
''क्यों हो रहा है ऐसा ?
कब तक होगा यह ?
क्या
हम और तुम
मिल नहीं सकते ?''

मैं खामोश था,
उसके बाजुओं को
अपने कंधे से उतार कर
केवल

दो थपकियां ही दे पाया,
क्योंकि
दूर खड़ी टैक्सी
इंतजार कर रही थी
और मुझे उसी रात मिला था
कश्मीर छोड़ने का
फतवा ! !

३१ अक्तूबर, १९९३, दिल्ली

नव वर्ष

आतंक के इस ताण्डव में
नव वर्ष, तुम क्यों आये हो ?
तुम्हें भी
बीते वर्ष की कतार में
खड़ा कर देगा–
आने वाला वर्ष
मिलेंगे नए-नए नाम,
नहीं बचा पाओगे अपने को
आतंकवाद के साये से
होंगे कई बम विस्फोट
न जाने कितनी
हत्याओं का
लगेगा तुम्हें पाप !
कितने ही घरों को
सूना करने के अपराध में
खड़े कर दिए जाओगे–
कठघरे में !

१ जनवरी, १९९१, जम्मू तवी

सवाल !

जो काट गया अपना शीश
दे गया मुझे जीवन,
'एक विधान, एक प्रधान, एक निशान'–
का नारा लिए
जो न्योछावर हुआ
मेरी जन्मभूमि पर–
कैसे भुला पाऊँगा उन्हें !

जीवित ही जिन के सीने को फाड़
निकाल लिए जिगर,
नोच ली खाल
लटका दिया चिनार से,
बाँध बोरी में
फेंका प्रवाह में,
अपहरण कर
गुप्तांगों पर किए प्रहार,
भून दिया गोलियों से
जिन्हें–
कतार में खड़ा करके,

पूछती हैं वे रूहें
हमसे कई सवाल—
जम गया है क्या
तुम्हारी धमनियों का रक्त
अधिकारों की लड़ाई
लड़ नहीं सकते ?

१४ सितम्बर, १९६३, जम्मू

(ख) मेरा रोम-रोम सिहर उठता है...





घर

एक.

परिभाषाओं के दायरे से मुक्त
स्थापित समाज की
एक आधारभूत शिला,
मर्यादा, प्रेम, आत्म-समर्पण
के बिछौने में
झूलता है घर।

दो.

आस्था का केन्द्र
निजी अस्तित्व की परख
एक मनोनीत
पूजा स्थल।

तीन.

पसीने में भीगा
चीथड़ों से लिपटा
हाड़मांस का शरीर भी

ढूंढता है घर–
रैन बसेरे के लिए एक साया।

चार.
घर
मालिक और
किराएदार।

११ मई, १९९०, विस्थापित शिविर, नगरोटा

तलाश : एक घर की

वह घर—
जहाँ
आसपास हैं फुहारें
निशात-सी,
बहती धारा
चश्मेशाही के मीठे जल की
पार्श्व में है जिसके
अहरबल के जलप्रपात का
मनोरम दृश्य।

पौ फटते ही
जिसके चबूतरे से
चार-चिनारीं
पास दिखती हैं
और
चांदनी रात के सन्नाटे में
खामोश झील का दर्पण—
निर्वासन की लम्बी रात में
मेरे ख्वाबों में
अक्सर उतर आता है !

१ नवम्बर, १९९३, दिल्ली

चौथी मंजिल

चाहे-अनचाहे चेहरों की
एक लम्बी कतार
जहाँ मिल जाती है
मैं खामोश
सफर की लम्बी दौड़ में
गुम
हो जाता हूँ।
और दूर क्षितिज में
तलाशता रहता हूँ—
वह टिमटिमाता तारा,
जिसे अक्सर मैं देखा करता था—
अपने घर की
चौथी मंजिल से।

१३ फरवरी, १९९३, दिल्ली से गुवाहाटी जाते हुए रेलगाड़ी में

मैं विस्थापित हूँ

मैं विस्थापित हूँ खानाबदोश नहीं
न ही कोई मनगढ़न्त कथा
भुक्तभोगी हूँ इस यातना का
मेरी जड़ें
सतीसर[1] की पावन तलहटी तक
जाती हैं
त्रिवेणी संगम है–
माँ वितस्ता[2]।

मेरे मानसपटल पर
अंकित है–
'राजतरंगिणि[3] और वाख[4]',
हब्बाखातून[5] और अरणिमाल[6] की
स्वर सरिता।
मैं नहीं भूला हूँ–
बौद्ध विहार
मार्त्तण्ड[7] के भग्नावशेष,

---

१. कश्मीर का एक और नाम, २. नदी, ३. पण्डित कल्हण का ग्रन्थ, ४. ललद्यद के पद, ५-६. १७वीं एवं १८वीं सदी की विरह गीतकार, ७. सूर्य मन्दिर।

शंकराचार्य[८], हारी पर्वत[९] का
शंख निनाद,
क्षीरभवानी[१०] में
अष्टमी का दिवस,
पावन अमरनाथ गुफा,
अलौकिक रंग में रंगा–
शेषनाग का जल स्रोत
पंचतरणी और ग्लेशियर।

मैं कई बार
विस्थापित हो चुका हूँ।
कभी मेरा अस्तित्व
ग्यारह[११] घरों में सिमट चुका था
राष्ट्रीयता का मोल
मैं
अब भी चुका रहा हूँ
इसी कारण मैं विस्थापित हूँ।

२४ फरवरी, १९९२, नगरोटा

---

८. शिव मन्दिर, ९. एक पहाड़ी पर स्थित शारिका देवी का मन्दिर, १०. देवी का मन्दिर, ११. १३८९ में सुलतान सिकंदर (बुतशिकन) के कश्मीर आगमन पर व्यापक रूप से धर्मान्तरण हुआ, जब घाटी में कश्मीरी पण्डितों के मात्र ११ परिवार ही बचे थे।

मेरी वादी

एक.

आज,
निराशा ओढ़े
मेरी वादी
व्यथित मन
सजल नयन से
सुना रही है–
अपनी व्यथा
कि
किवाड़ बंद किए दुकानें
भविष्य के किस
अपठनीय असहाय–
अध्याय की सूचक हैं।

दो.

चौराहे पर
बुत बने

दोपहर के कर्फ्यूयी सन्नाटे में
किसी अनहोनी घटना के
शिकार बनने के लिए
तत्पर हैं–
देश के अधिकारविहीन
प्रहरी !

तीन.

अखबारों में
रंगीन सुर्खियों के साथ
छपता है–
किसी कट्टरपंथी का
किसी देशभक्त के नाम
मौत का फतवा !
और भारत से अलग होने के
कई बयान !

मेरी वादी !
वेदना में
डूबती-उतराती है
कि कब होगा संगम
गंगा से
वितस्ता का...

८ फरवरी, १९९१, हैदराबाद (आंध्र प्रदेश)

चिनार का पत्ता

मैं
शरद् में झरता
चिनार का पत्ता—
बिखरा, धूल की परतों में
फेंका जाता हूँ—
एक द्वार से दूसरे द्वार
नदी के आर-पार
निस्सहाय
बिना विरोध
बवंडरों-भंवरों में—
खो जाता हूँ
डूबता-उतराता...

१५ नवम्बर, १९९०, विस्थापित शिविर, नगरोटा

वजूद चिनार का

पतझड़ की
ठिठुरती रातों में
'कांगड़ी' में बिखरे अंगारों से
मेरे व्यक्तित्व का सहारा
लेते लोग,
बर्फीली चादर की तहों में
समाधिस्थ
मेरा वजूद।

२६ दिसम्बर, १९९०, विस्थापित शिविर, नगरोटा

नवरेह के आगमन पर

रात भर माँ
सोचती रहीं
उस भरी थाली के बारे में
जो रखा करती थी
सोंत[1] आने पर
सिरहाने
ढेर सारी कोंपलों के साथ,
कि उसके पूर्वज
बता गए थे उसे—
नवरेह[2] की पहली प्रभात में
भरी थाली का मुँह देख
होता है शुभ
नव वर्ष में प्रवेश करना।

आज
टेंट का दामन थामें
ले आई थीं माँ
काट कर कुछ झाड़ियां

१. वसंत, २. चैत्र शुक्ल प्रतिपदा : नव वर्ष

दरख़्तों के पत्ते !
कुछ अपनी बेबसी !
इस निर्वासन में भी
माँ ने
दिलाया मुझे अहसास
घर में होने का।

४ अप्रैल, १९९२ (नवरेह), विस्थापित शिविर, नगरोटा

वितस्ता के जन्म दिन पर

सींची है मैंने
केसरी नगरी
बोए गए जिसमें
ज्ञान-श्रद्धा-शांति
और भाई चारे के बीज,
ऋषि-मुनियों की फुलवारी में
कश्यप भूमि के हृदय पर
सदियों से बही चली
जा रही हूँ
प्रतिमान-गतिमान।

आज संत्रास
पतनशील गलियारों की
अंधेरी गुफाओं में
राह बनाती
कल-कल करती
सोचती हूँ—
कि कैसा होगा मेरा कल।

२४ सितम्बर, १९९३, (व्यथत्रुवाह), नई दिल्ली

निर्वासित कश्मीरियत

कश्मीर की कश्मीरियत है–
शैव दर्शन
भारतीयता
वेद-पुराण-उपनिषद्,
जीवन जीने का दर्शन
जो
अब तड़पता है
तम्बुओं के तपे तवों पर
एक ज़िन्दा मछली की तरह,
वह यायावर नहीं
कश्मीरियत की पहचान है।

करते हैं उस पार
दर्शन की जो खोखली बातें
वे खुद ही कर चुके हैं–
अपनी मिट्टी पलीद
डाल कर मखतबों की खाद
भूल गए इतिहास
और अपने पूर्वजों को।

छीन गए वे जिनके अधिकार
मिटा गए हैं अपनी पहचान को
क्योंकि आज कश्मीरियत हो गई है
निर्वासित
फिर भी है जन्मभूमि पर
उसका जन्मसिद्ध अधिकार !

२४ फरवरी, १६६१, विस्थापित शिविर, नगरोटा

समावार

तप-तप कर
तपाया
जिसने कहवा
समावार[1] में
उसे ही
चुस्कियां ले-ले
निगल गया
आदमखोर
दालचीनी
पिस्ते और
बादाम की तरह।

८ दिसम्बर, १९९३, मीरांसाहब, जम्मू

---

१. कश्मीर में चाय बनाने का विशेष प्रकार का बर्तन

मेरी जन्मभूमि !

तुम मेरी अस्मिता हो
जन्म भूमि,
मेरी नस-नस में
बसा है तुम्हारा आकार ! इतिहास !
कैसे पाऊँगा तुम्हें भूल।

मैंने भोगा है तुम्हारी आँखों से
करवट लेता वह इतिहास
हुआ था जब धर्मान्तरण
बदल गया था सब कुछ
खण्डहरों में !

ओ मेरी जन्मभूमि !
मत हो उदास
एक दिन आ मिलेंगी
तुम्हारी सन्तानें
पूरी पहचान के साथ।

१ फरवरी, १९९३, नई दिल्ली

मेरी वापसी

काल के विकराल पंजों ने
मेरा आज और कल
मेरे सामने ही मुझसे
छीन लिया
मैं असहाय
देख रहा हूँ
अतीत में—
जब पहले पहल
बुतशिकन ने आकर
तोड़ डाले थे—मेरी आस्थाओं के केन्द्र,
जब तिलक
मौत की रसीद होता था
और
औरंगज़ेब
जलाया करता था
ढाई मन जनेऊ रोज।

ख़बर है मुझे कि
वर्तमान की शक्ल में

वह इतिहास
लौट आया है–
फिर भी मैं यहूदियों की तरह
वापस लौटना चाहता हूँ
अपनी मिट्टी को चूमने।

२४ सितम्बर, १९९२, दिल्ली

लोकताक के किनारे

एक.

यह अतीत है
कि मेरा वर्तमान
लोकताक[1] बार-बार
डल झील़ होने का
क्यों दिला रहा है
अहसास !

ढूंढ रही हैं मेरी आंखें
चार-चिनारी
नेहरू पार्क
और दूल्हे-सा सजा
वह शिकारा
जो ले जाया करता था मुझे—
डल झील के उस पार।

---

१. इम्फाल में स्थित झील

दो.

आज खम्भा-थोइबी ने
ताजा कर दी है याद
हीमाल और नागराज की,
पुआना बाज़ार के जमघट में
चहलकदमी है
हब्बाकदल-सी।

इम्फाल की आबोहवा
मुझे, कश्मीर के स्पर्श-सा
आनन्द दे रही है।

२३ फरवरी, १९६३, इम्फाल (मणिपुर)

मुझे कश्मीर जाना है

कश्मीर का कण-कण
मेरी सांसों में
धड़कनों में
समाया है।
मुझे, कश्मीर की फिज़ाएं–
बुला रही हैं।
डल झील[1] वास्ता दे रही है–
शांति का,
बर्फीली चोटियों में
किसी ने कालिख पोत दी है,
हवाओं में घुला ज़हर
मुझे अमृत-वर्षा के लिए
बुला रहा है–
मुझे कश्मीर जाना है !
मुझे कश्मीर जाने दो ! ! !

सुनसान सड़कें, बन्द दुकानें
हड़ताल, कर्फ़्यू से
ऊब चुका है–
मेरा उदास कश्मीर !

मेरे घर-द्वार खुले हैं
और भीतर
अब मिट्टी के टीले ही
बचे हैं ;
उग आई है
उदास हरियाली की
कंटीली झाड़ियां,
मुझे घर की मिट्टी से
प्यार है—
मिट्टी, जिसमें मेरी
तमाम आस्थाएं समाई हैं
मुझे कश्मीर जाना है !
मुझे कश्मीर जाने दो ! !

मुझे मेरे बचपन की
क्रीड़ा-स्थली
याद कर रही है
विरह की अग्नि में
झुलस रहा है—मेरा गांव
सुबकियां ले रहा
पनघट सूना है
प्रकृति के हर मौसम की
किलकारी सुनने को
तड़प रहे हैं
आस-पड़ोस के वीरान आँगन...
वे क्षण, जब कौंध जाते हैं
ललद्यद[२] के वाख की तरह

---

१. डल झील : श्रीनगर (कश्मीर) स्थित झील का नाम
२. ललद्यद : कश्मीर की १४वीं शती की संत कवयित्री

मेरा रोम-रोम सिहर उठता है—
कश्मीर की ओर !

मुझे कश्मीर जाना है !
मुझे कश्मीर जाने दो ! !
घर जाने से मुझे मत रोको ! ! !

२४ मार्च, १९९१, नगरोटा

नहीं है आज मेरे पास।

घर था
घर जैसा
घर की तरह
मेरा भी
पर आज हुआ हूँ विस्थापित
देश की एक दहलीज से
दूसरी दहलीज
भटक रहा हूँ–
खोज में एक बसेरे के लिए।

था मेरा भी–
वह भी
यह भी
सब कुछ
न था क्या मेरे पास,
पर आज भी
मैं ही हूँ

वही आकाश है

धूप है
साँया है
पर नहीं है आज
मेरे पास
मेरा घर

७ अगस्त, १९९४, दिल्ली

(ग) मेरा अलग विधान है !



मेरा अलग विधान है !

नहीं होता है लागू–
मुझ पर, देश का संविधान
मेरा अलग विधान है,
और
मेरी सीमाएं सील हैं–
देश की जनता के लिए।

मैं उन सीमाओं को तोड़कर
तुम्हारे समीप आया हूँ
मेरे देश !
क्यों नहीं बढ़ा पाते हो–तुम
मेरी ओर क़दम,
मुझे नहीं चाहिए
विशेष दर्जा !
अलग विधान !
मैं भी बहना चाहता हूँ
तुम्हारी
एक ही जलधारा में–
मेरे देश...

२६ जनवरी, १९९२ (गणतंत्र दिवस), दिल्ली

चौराहे पर खड़ा आदमी

एक ऐसे चौराहे पर
खड़ा हूँ
जहाँ से फूटती हैं—
निराशा, क्षोभ
पराजय और वेदना की राहें।

चारों तरफ
हृदयहीन
पथहीन भीड़ से
सहायता की
कर रहा हूँ गुहार—
जो दब जाती है
जलसे, भाषणों के शोर में !

चेहरे
क्रूर इतिहास का
ओढ़े हैं कफन,
हादसों का काल-चक्र
निरन्तर गतिशील

कह रहा है
क्षणभंगुरता की कहानी।

बन गया है
अधिकारों के हनन का
जीवित उदाहरण
मेरा कारवां !
बेतहाशा भाग रहे हैं
लोग
और मैं दिग्भ्रमित-सा
फुटपाथ पर पड़ा हूँ।

१३ मार्च, १९९०, पठानकोट (पंजाब)

एक मुद्दा भर हूँ।

मैं भटका हूँ
देश के कोने-कोने में
तुम तक पहुंचने के लिए
खोज रहा हूँ
रास्ता।

दुबक कर
तुम्हारी गोद में
मेरे गांव–
सुनाता
निर्वासन की व्यथा,
उस रात जब हवाओं ने
किया था–ऐलान-ए-जंग
तब तुम्हें
अकेला छोड़
मैं भाग आया था
रात के अंधेरे में।

बसाए गए

तम्बुओं के साये में
'भारत के एजेंट !'
लोगों ने कहा :
कायर ! बुजदिल !
लगाए गए मेरे पलायन पर
कई प्रश्न चिह्न !

मानवतावादियों ने
छीने मेरे अ़धिकार
लगे करने प्रचार
'मारे जा रहे हैं जंगजू
पकड़ा जा रहा है गोलाबारूद
हो रहा है उनके अधिकारों का
हनन।'

पर ! मेरे मानवाधिकारों का
क्या हुआ :
जलाया गया पुश्तैनी गांव,
अच्छाबल[१] में
भून डाला गया मेरा पड़ोसी,
आरे पर चीरे गए दम्पत्ति,
दागे गए देवालयों पर रॉकेट !

कल तक मैं
इस देश के लिए
सुब कुछ था
पर आज

---

१. कश्मीर में एक स्थान का नाम

एक मुद्दाभर हूँ
सेमिनारों और प्रेस कान्फ्रेंसों में
सियासत-सियासतदारों के बीच
पिसता हूँ—
एक बेआवाज़, बेजान
पुतले की तरह !

२६ अक्तूबर, १९९३, दिल्ली

मेरा पड़ोसी

आह !
मेरे आँगन में
रोप दिया है–
मेरे 'पड़ोसी' ने
आतंक का पेड़
शाखाओं में उग आए हैं–
हथियार-गोला बारूद,
जिसके साये में
पलते हैं कट्टरपंथी।

ढक लिया है–
उस पेड़ ने
अपने साये से
मेरी जन्मभूमि को,
कर रहे हैं रोज वे
उसे लहूलुहान–
बंदूक की दनदनाहट से।

पीला पड़ गया है रंग

चिनार का,
संतूर में
सुनाई दे रही हैं—कराहें,
गा रही है
अरणिमाल
विरह के गीत
कि कब होगा मिलन,
पर मेरी वापसी पर—
लगा दिया है प्रश्न चिह्न
मेरे संरक्षक ने,
जो मेरे 'पड़ोसी' की खुशामद करने में
व्यस्त हैं !

१५ सितम्बर, १६६२, जम्मू

बंटवारा

नहीं भाती है जिनको गंध
माटी की,
उन 'नेताओं' ने किया
देश का बंटवारा
जो देश को
'मात्र भूमि' समझते हैं
और हमारे लिए है जो–
मातृभूमि !

२३ अक्तूबर, १९९३, नई दिल्ली

मेरे अधिकार कहाँ हैं !

तुम !
बड़े-बड़े दावे करते हो
बनाते रहते हो हर सुबह
एक नई नीति
करते रहते हो घोषणाएं
कई पैकेजों की
लेकिन—
इस एजेंडे में
मेरा नाम कहाँ है !

बोलते हो
उस पार देंगे 'आत्मनिर्णय का अधिकार'
'तिरेपन से पहले की स्थिति'
'ग्रेटर कश्मीर'
लेकिन—
मेरे अधिकार कहाँ हैं !

करते रहते हो उनसे
मिन्नतें,

दोहराते रहते हो
कई 'समझौतों' के नाम
जिनमें गिरवी रख दिया
मेरा भविष्य ! मेरे अधिकार !
मेरी आज़ादी को !
और लोकतंत्र में
दिया मुझे वनवास !

नहीं रुकेगा मेरा काफिला
जब तक नहीं लौटाते तुम
मेरे मनुषत्व का मान !

२८ अप्रैल, १९९३, नई दिल्ली

मुख्यधारा !

एक.

वे कहते हैं उन्हें
डाल दो हथियार !
कर दो समर्पण
आ मिलो मुख्यधारा में
कर देंगे रिहा बिना शर्त
और तुम्हारी
ताजपोशी।

जिन्होंने जला दिया
संविधान ! तिरंगा !
उनकी मांदों में लगातार
उनसे समझौता करने
आ टपकते हैं
मुल्क के 'रहबर' !

दो.

सालों से जो
बो रहे हैं विष

जिम्मेदार हैं
हमारे निष्कासन के
उन्हें ही सौंप दिए गए हैं अधिकार
फैसला करने का !

जो मुख्यधारा से हट गए हैं
उन पर देश के 'सेकुलर'
हो रहे हैं न्योछावर
और जो हैं मुख्यधारा में
उन्हें बना दिया गया
लावारिस !

चीथड़े-चीथड़े तम्बुओं से
एक दिन निकलेगा उनकी आहों का
ज्वार
और जलोदभव[1] मारा जाएगा
उनके भीतर
उफनते सतिसर में !

१२ जुलाई, १९९३, दिल्ली

१. आदिकाल में कश्मीर में ताण्डव मचाने वाला एक राक्षस !

एक कुरुक्षेत्र फिर होगा !

क्या रचते रहेंगे
यूं ही
वे षड्यंत्र
हमारी जड़ें काटने का,
नहीं खौलेगा ख़ून
हमारा !
मन के भीतर क्या
उठती नहीं हैं लपटें—
प्रतिशोध की,
कि इस कलयुग में मिला है हमें
अन्तहीन वनवास
और न जाने
झेलने होंगे
कितने ही अज्ञातवास !

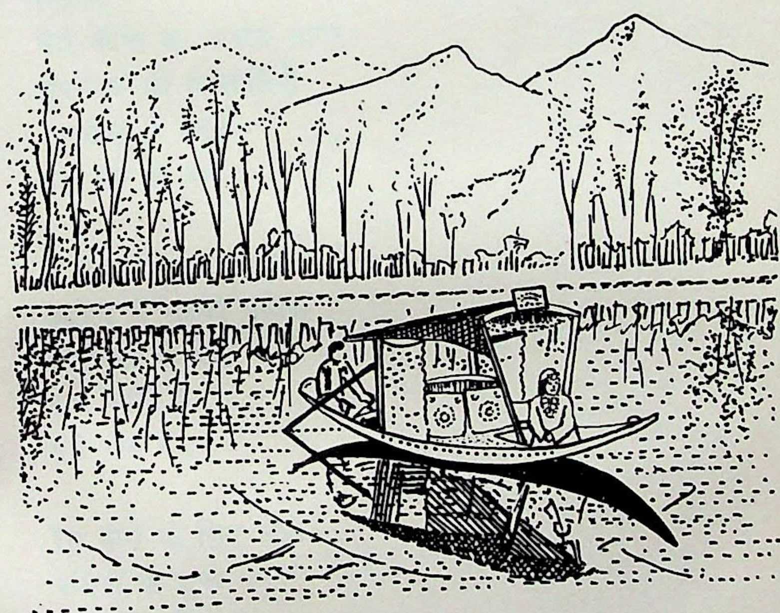
हम क्यों नहीं अर्जित करें
शक्तियां
किसी गांडीवधारी की तरह
चाहे वृहन्नला ही बनना पड़े

दुष्ट-दमन के लिए।

एक कुरुक्षेत्र फिर होगा
टूटेगा दुर्योधन का दम्भ,
रचे जाएं चाहे
कितने ही चक्रव्यूह
हर हाल में उन्हें
भेदना होगा—
वीरांगनाओं और वीरों के साहस से
कहीं चूक न हो जाए।

१ मार्च, १९९१, जम्मू

(घ) भोर की पहली किरण...



पेड़

वन-वृक्ष चीड़ के अन्तस में
समाया
मेरी वेदना का अथाह सागर
धूप-छांव की कल्लोलिनी
शाखाओं में बढ़ते—
मेरी उम्र के लम्हे।

मैं आश्रय दाता कहलाता हूँ—
आश्रय में भटका पथिक
थोड़ी देर के लिए
ठहर जाता है
मेरी गोद में।

रैन बसेरे के लिए आते
पक्षियों के झुण्ड
कलरव करते
और मैं चुपचाप
सुनता रहता हूँ—
कि लोग बना रहे हैं
मुझे काटने का षड्यंत्र

और मैं
निस्सहाय चीख़ भी नहीं सकता।

रात के सन्नाटे में
चांदनी की झिलमिलाहट
मुझे अलंकृत करती है
और घु-घु-घू-घू की आवाज़ कराती है
मेरे होने का अहसास।

भोर की पहली किरण
मेरी देह के भीतर
समा जाती है
कोई जल अर्पण कर,
बन्दनवार बांध
ईष्ट मानकर
तिलक पोत देता है,
वह भी मेरा ही एक रूप है।

पतझड़ और वसंत के पहनावे से
मैं लोगों को
परिचित कराता हूँ
आने वाले मौसम से,
फिर भी मैं वृक्ष सापेक्ष
मूकता का सागर अपने में समाए
रमा रहा हूँ—सन्नाटे के साथ
खोजता रहता हूँ—
एक खुला आसमान...

८ दिसम्बर, १६६३, जम्मू

मेरा आगत

वह घरौंदा
जो बनाया था
माहौल के–
चकाचौंध ने
बस
एक क्षण में
बिखर कर टूट गया
जीवन की तल्खियां
स्पष्ट दिखने लगीं।

चांदनी रात के घोर सन्नाटे में
मुझे
अनागत की ओर
संकेत कर रहा है–
मेरा झुलसा आगत !

१४ सितम्बर, १९९२, नई दिल्ली

वापसी

मैं चुपचाप
देख रहा था।
प्रकृति के
विकराल पंजों ने—
मेरा, आज और कल
छीन लिया
और
पहुंचा दिया
फिर उसी
भीड़ में
जहाँ से शुरू की थी मैंने
यात्रा।

२४ सितम्बर, १६६२, दिल्ली

भटकन

खामोश हैं
दिशाएं,
स्थिर हो गयी है धारा
नदी की,
पत्तों में थिरकन न रही
सूर्य भी आज
आकाश में जैसे समा
गया है।
अंधेरे में उजाले की कामना लिए
भटकते फिर रहे हैं लोग
एक किरण के लिए।

१ मई, १९९३, विस्थापित शिविर, नगरोटा

एक लम्बा सफर

शब्द
मेरे पीछे दौड़ रहे हैं
अतीत ने मेरे वर्तमान का
साया
मुझसे छीन लिया है।
सफर
लम्बा, अन्तहीन...

११ जून, १९९२, दिल्ली

बिलख पड़ीं दिशाएं

(बहन शकुन्तला के लिए)

एक.

मेहंदी रचे हाथों से
पुचकारती सहलाती थी वह—
किलोलते
दुग्ध-दांतों वाले
शिशु का माथा।

अचानक
दूध पीते बच्चे से
काल के क्रूर हाथों ने
छीन लिया उसका कौर,
चारों ओर से बिलख पड़ीं
दिशाएं।

दो.

कंधे पर उठी सेज
असह्य पीड़ा दे गई

सोई थी जिसमें
शांत शकुन्तला
गहरी नींद में !

तीन.

रात के गहन सन्नाटे में
जब बच्चा
माँ के दूध के लिए
बिलखता है
वात्सल्य के लिए
मछली-सा तड़पता है,
चीख-चीख कर
अपनी जननी को
ढूंढता है
तब
सारे आदर्श फीके पड़ जाते हैं
वेद-वाणी मूक हो जाती है
और
शाश्वत सत्य भी क्रूर
लगने लगता है।

२२ अप्रैल, १९९०, जम्मू

मेरी लेखनी

दर्द का भयानक
चेहरा लिए
लहूलुहान हैं शब्द मेरे
चीख और भूख से
तड़पती
रेत के घरौंदे
बना रही है—
मेरी लेखनी।

संवेदना की गहरी खाई
के एक अंधेरे कोने में
फँसी—
मेरी भावनाएं
क्षत-विक्षत हैं,
मेरी लेखनी मुझे
जीवित होने का
अहसास़ दिला रही है।

२२ नवम्बर, १९९२, जम्मू

व्यथा क़ा ठहाका

सुनकर मेरी व्यथा
व्यथा भी–
व्यथित हो उठी
और पोंछने लगी
मेरी व्यथा को
अपनी व्यथा की आंखों से।

भीग गया सारा आंचल व्यथा का
मेरी व्यथा से,
केवल व्यथा ही व्यथा
बहती गयी–
व्यथा के सागर में
व्यथा बनकर,
और मेरी व्यथा की व्यथा
देख
वह सहसा ठहाका मारने लगी,
मैं क्षमा मांग
वहाँ से चल दिया
मन को सांत्वना देकर।

२६ नवम्बर, १९६३, दिल्ली

केवल प्रश्न !

प्रश्न दर प्रश्न
न जाने
कितने ही प्रश्न
और प्रश्न,
मेरे सामने
प्रश्न चिह्न की तरह
खड़ा है–
प्रश्नों का एक
समुद्र।

हर बार
हर जवाब के बाद
फिर खड़ा होता है
एक और प्रश्न
और जवाब दर जवाब के साथ
खड़े होते हैं
कई सोए प्रश्न !

३१ अक्तूबर, १९९३, दिल्ली

कल की आशा

बिखर-बिखर गई
अरमान के धागे में
सत्य, परिश्रम और संघर्ष के
फूलों को गूंथकर–
बनाई माला,
बार-बार
लपेट लिया सब कुछ
अपनी बांहों में–
समय की धुंध ने।
फिर भी
धुंध हटाता, फूलों को चुनता
माला गूंथता
आगे बढ़ता रहा–
एक अस्तित्व
संजोए
सुनहरे कल की आशा।

जनवरी, १९६०, जम्मू

पहली सीढ़ी

मैं–
घर द्वार की पहली सीढ़ी हूँ
जहाँ, प्रत्येक राही
अपने धूल-धूसरित
पद चिन्हों की अमिट छाप
छोड़ जाता है–
अगले चरण तक
पहुंचने के लिए।

२१ अक्तूबर, १९९३, दिल्ली

पापी पेट !

एक आदमी की उलटी
दूसरा
चाट जाता है !
पापी पेट का
सवाल है !

२ मार्च, १६६१, नगरोटा

यादों का सैलाब

फिर–
उदय हुआ
मेरी यादों का सूरज
झुलस रहा है–
विरह की तपन से
हर बार की तरह।

फिर
चमका बदलियों में चांद
बहा ले गया
यादों का सैलाब
और बिखेर दिया
मेरे अरमानों का खलिहान
दूर-दूर तक।

१४ अगस्त, १९९१, जम्मू

डगमगाती आस्था

आस्थाएं जब
मिट जाएं
मंजिलें बदल जाएं
वीरान पथों पर
कोई अजनबी आकर
हरियाली के सपने
सजा दे,
तब—
यथार्थ भी
कड़वा लगने लगता है।
मन कई
आशंकाओं से
घिर जाता है,
कई सवाल
भीतर-ही-भीतर
काटने लगते हैं
और
मन के अंधेरे बादलों में
छिप जाता है—
मेरी आशाओं का आसमान।

१५ जुलाई, १९६३, जम्मू

यह माहौल

छटपटाते
माहौल में
हवाओं का रुख
कहीं मेरी ओर तो नहीं ?

क्यों आवाज़ है
दबी-सी
लगता क्यों है पराया
यह माहौल
अपनों के बीच...

२५ मई, १९९२, दिल्ली

बाबू

बेतरतीब
ऊंची इमारतें,
संकीर्ण द्वार–
गलियारों की तरह
'आदर्श' की नंगी तस्वीर
है
'बाबू' का काया-कल्प।

२६ सितम्बर, १९६०, जम्मू

वर्षगांठ

हम वर्षगांठ पर
आशीर्वचन पाते हैं।
वे दीये बुझाकर
रंग-रलियां मनाते हैं।

२४ अगस्त, १६६०, जम्मू

होली

मैं
रंग में रंग चुका हूँ—
रंज के
अंग-अंग रंगा है मेरा,
खेल चुका होली—
हर बार
होली
खेली है मुझसे
इस निर्वासन में।

जून, १९६२, दिल्ली

जगा गया कोई

आ:ज कोई
दस्तक दे गया
मेरे अन्धियारे मन को
जगा गया—
मेरा वह
जो मुझमें है
जो मुझसे अपरिचित है—
अपनों की तरह।

२६ दिसम्बर, १९९२, दिल्ली

प्रेरणा

इस अजनबी शहर में
घर से इतनी दूर
एक अजनबी बनकर
तुम कैसे आए
मेरे जीवन में,
दे गए मेरे विचारों को
एक नई दिशा !
एक नया रास्ता ! !
एक नया सवेरा ! !

६ दिसम्बर, १६६१, जम्मू तवी

अनुभूति

अनुभूति
जो पराई ही रह गई
बस महसूसता रह गया
मन ही मन में
भीतर लहरें उठने लगीं
कि अब समुद्र चाहिए
जहाँ मैं
अपनी भावनाओं को
उड़ेल दूं।

सितम्बर, १९९२

फिर जुड़ा मन का तार

रेतीले मन में
फिर अंकुर आ फूटा है
कोई रसीला खुशबूदार
आत्मीय रंगों से भरा
वह जो
पिछले शरद ने
मुझसे छीना था
बारीक तारों से फिर
जुड़ गया है–
मेरी आत्मानुभूति का
संकल्प !

३ दिसम्बर, १९९२, दिल्ली

अब के बूंदों में

क्यों हो रहीं हैं बेकाबू
मेरी भावनाएं
उमड़ा है कौन-सा ज्वार
न थमा क्या अब भी वह तूफान
जिसकी लहरों से
आहत हो रहा है मन।

दूर-दूर तक फैले आकाश में
बिखरे यह घने बादल
कहीं मेरी व्यथा के साक्षी दूत तो नहीं ?
कि अबके बूंदों में
बरसेगी मेरी व्यथा
जो भिगो देगी मेरी भावनाओं
के आंचल को,
सींच देगी
अन्तर्मन में
फूटे अंकुर को,
होगा मुझे भी यह विश्वास
कि कभी मेरे रेतीले मन में
हरियाली तो छाएगी !

१५ सितम्बर १९९४, दिल्ली

अब तुम्हीं बताओ !

तुम अपार असीमित
मेरी नज़र की एक
काल्पनिक उड़ान हो
तुम्हारी आहट पाते ही
न जाने क्यों
मेरे भीतर
रोमांच हो उठता है
और हर क्षण
हो जाता हूँ मैं
उद्वेलित
तुम से बात करने के लिए
तुम तक पहुंचने के लिए।
तुम्हें अपनी मंजिल पर न पाकर
दवे-पांव लौट आता हूँ
प्रतीक्षा की घड़ियां गिनने...

यह जानकर भी
कि
तुम्हारे और मेरे बीच

एक फासला है
दूरी है
अन्तराल है एक युग का
मगर
फिर भी न जाने क्यों
मेरा दिल मचल उठता है
और अपने आप से अक्सर
पूछने लगता हूँ
मैं
कई सवाल ?...

६ सितम्बर, १६६४, दिल्ली

आओ चलें कहीं दूर

आखिर
कब तक छिपते रहेंगे हम
एक न एक दिन
प्रकट तो हो ही जाएगा—
हमारा सच !
चेहरे की खुली किताब पर
पढ़ ही लेंगे लोग—
हमारे सम्बन्धों की गाथा।

इतिहास में फिर जुड़ जाएगा
एक पन्ना,
हम बनेंगे—
चर्चा का विषय
समीक्षा की एक मोटी पुस्तक।

समाज—खड़ा कर देगा
अनेक प्रश्न ?
और
जूझना होगा हमें
कई चुनौतियों से।

आओ, चलें कहीं दूर
मान्यताओं की देहरी-लांघकर;
जहाँ
दूर-दूर तक
प्रकाश के घेरे हों
और हो
हमारी भावनाओं का
एक अलौकिक महल,
हर क्षण अपना हो
और हो तुम पर मेरा
पूर्ण अधिकार।

२८ फरवरी, १६६०, जम्मू

अहसास

तुम्हारे और मेरे
साथ का यह अनुभव
निकटता से कहीं दूर,
थिरकता है
तुम्हारा वजूद,
लहकता हुआ झोंका हंसी का
मेरे भीतर जैसे
सभी खिड़कियों पर लहरा रहे हैं पर्दे।
सब कुछ बिखर जाएगा शायद
तुम तक
पहुंचने से पहले।

इश्तिहार

शहर की सड़कें
आदमी का पीछा करती हैं
टेढ़े-मेढ़े रास्तों के दायरे से
इस शहर में
दौड़ लगाने वालों की कमी नहीं।
जब सट जाता है
दीवारों के साथ--
आदमी का व्यक्तित्व,
लोग उसे
इश्तिहार समझते हैं।

११ दिसम्बर, १९९२, दिल्ली

आज और कल

अपने भाग्य की
टेढ़ी-मेढ़ी रेखाओं को
बिछा दिया था—
मैंने, पथ में तेरे
आज
चौराहे पर खड़ा होकर
पाया—
उनमें एक उलझाव
एक भटकन
और खिसक गई
मेरे पांवों के नीचे की
ज़मीन !
जिसको सौंपा था
मैंने अपना कल
वह आज
किसी और के कल को
संवार रही है
और मैं
मौन खड़ा

देख रहा हूँ
अपने आज और कल के
मिटते संसार को।

३ अगस्त, १९६३, दिल्ली

अनछुआ पल

पहले
तुम
सरिता थी,
अब
रेत ही रेत हो !

अनचाहा मेहमान

तुम
मेरा एक
विकल्प थी
और मैं था—
एक अनचाहा मेहमान
तुम्हारे लिए।

३ अगस्त, १६६३, दिल्ली

मनु !

'कामायनी' का मनु भी
भटका था
सुना है
उसे 'श्रद्धा' मिली थी
मैं भी भटका हूँ
पर...

३ मई, १९६२, दिल्ली

शीर्षकहीन कविता

तुम्हारा बिछोह
बेआवाज़
एक थर्राता हुआ—
सन्नाटा है
दबोचता है
पीसता है मुझे
इस बियावान शहर में
जहाँ
पेड़ों के नहीं
आदमियों के जंगल हैं।

१६ अक्तूबर, १९९४, दिल्ली

फासले

उन कदमों के निशान
मैं
अब भी, पहचान रहा हूँ—
रेगिस्तान की रेत पर
जिनमें
छिपा है मेरे
बचपन का प्यार !
कई उतार चढ़ाव !

आज
न कोई कोयल दे रही थी
वसंत का संकेत
फिर भी
रेत के टीलों के बीच
उग आये हैं कैक्टसों
में फूल
जिन्हें देख
हम पार करते थे
तपती रेत में
अन्तहीन फासले ।

हिमानी

जब से गई हो—तुम
मिट-सी गई है
अक्षरों की पहचान
शब्दों ने वाक्य में
शामिल होना
छोड़ दिया है
कोई कविता, बन नहीं पाती
भावनाएं
हिमानी बन चुकी हैं।

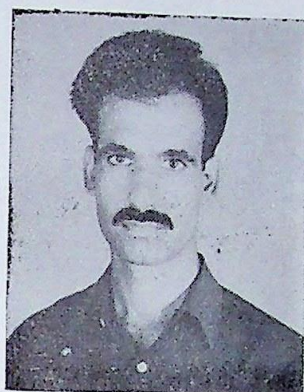
नदी मोम की !

भावनाएं
पत्थर नहीं
मोम होती हैं।
पिघलती है जिसकी काया
हर आंच के बाद
कि उफनती अन्तस की सरिता
काटती जाती है अपने किनारों को !
जब होने और न होने के बीच में
घटती है एक अनहोनी,
जब थम जाने के बाद
तूफान कर देता है
स्तम्भित,
जब भावनाएं खोजती है शब्द
तब अपने भीतर के सन्नाटे में गुम
खामोश लम्हों का बाजू थाम
मैं चाहता हूँ नदी मोम की हो
जो पिघलती जाए
बहती जाए
मुझे घेरती जाए
न हो खत्म
मेरे वजूद से पहले
मेरे वजूद के बाद !

१६ अक्तूबर, १९९४, दिल्ली

□□

(Dr. R. L. Shant)
Professor of Hindi
Bemina College Srinagar



महाराजकृष्ण 'भरत'

जन्म : २ मार्च, १९६४, मार्त्तण्ड (अनन्तनाग, कश्मीर)।

शिक्षा : एम० ए०, एम० फिल० (हिन्दी), बी० एड़०।

अप्रकाशित कार्य : 'आँगन के पार द्वार' : समीक्षात्मक मूल्यांकन (शोध-प्रबन्ध)।
'खुशवन्त सिंह्'स—इण्डिया विदाउट हमबग' का हिन्दी में अनुवाद—'खुशवन्त सिंह का, भारत—एक सार्थक दृष्टि।'

प्रकाशन : विविध पत्र-पत्रिकाओं में रचनाएं तथा लेखादि प्रकाशित।

गतिविधियां : राष्ट्रीय स्तर के साहित्यिक एवं सांस्कृतिक कार्यक्रमों में सक्रिय भागीदारी, अनेक पुरस्कार एवं सम्मान प्राप्त।

सम्प्रति : पाञ्चजन्य-साप्ताहिक से सम्बद्ध।